

## Chapter उन्नीस

### राजा पृथु के एक सौ अश्वमेध यज्ञ

मैत्रेय उवाच

अथादीक्षत राजा तु हयमेधशतेन सः ।

ब्रह्मावर्ते मनोः क्षेत्रे यत्र प्राची सरस्वती ॥ १ ॥

#### शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; अथ—तत्पश्चात्; अदीक्षत—शुरू किया; राजा—राजा ने; तु—तब; हय—घोड़ा, अश्व; मेध—यज्ञ; शतेन—एक सौ सम्पन्न करने के लिए; सः—वह; ब्रह्मावर्ते—ब्रह्मावर्त नाम से विख्यात; मनोः—स्वायंभुव मनु के; क्षेत्रे—भूभाग में; यत्र—जहाँ; प्राची—पूर्व की ओर; सरस्वती—सरस्वती नदी ।

महर्षि मैत्रेय ने आगे कहा : हे विदुर, राजा पृथु ने उस स्थान पर जहाँ सरस्वती नदी पूर्वमुखी होकर बहती है, एक सौ अश्वमेध यज्ञ आरम्भ किए। यह भूखण्ड ब्रह्मावर्त कहलाता है, जो स्वायंभुव मनु द्वारा शासित था ।

तदभिप्रेत्य भगवान्कर्मातिशयमात्मनः ।

शतक्रतुर्न ममृषे पृथोर्यज्ञमहोत्सवम् ॥ २ ॥

#### शब्दार्थ

तत् अभिप्रेत्य—यह विचार कर; भगवान्—परमशक्तिशाली; कर्म-अतिशयम्—सकाम कर्मों में बाजी मारनेवाला; आत्मनः—स्व; शत-क्रतुः—इन्द्र, जिसने एक सौ यज्ञ किये थे; न—नहीं; ममृषे—सहन कर सका; पृथोः—राजा पृथु का; यज्ञ—यज्ञ का; महा-उत्सवम्—महोत्सव ।

जब स्वर्ग के राजा सर्वाधिक शक्तिशाली इन्द्र ने यह देखा तो उसने विचार किया कि सकाम कर्मों में राजा पृथु उससे बाजी मारने जा रहा है। अतः वह राजा पृथु द्वारा किये जा रहे यज्ञ-महोत्सव को सहन न कर सका ।

तात्पर्य : इस भौतिक जगत में जो भी सुखोपभोग करने या भौतिक प्रकृति पर शासन करने के लिए आता है, वह दूसरों से ईर्ष्या करता है। यह ईर्ष्या स्वर्ग के राजा इन्द्र में भी पाई जाती है। जैसाकि शास्त्रों से प्रकट है, इन्द्र अनेक बार अनेक पुरुषों के प्रति ईर्ष्यालु रहा था। वह विशेष रूप से महान् सकाम कर्मों तथा योग अभ्यास अथवा सिद्धियों के प्रति ईर्ष्या रखता था। सहन न कर सकने के कारण वह उन्हें छिन्न-भिन्न करना चाहता था। उसे यह भय बना रहता था कि कहीं कोई योगशक्ति के लिए अधिक बड़े यज्ञ सम्पन्न करके उसका पद न हथिया ले। चूँकि इस भौतिक संसार में कोई भी पराई

विभूति नहीं देख सकता, अतः प्रत्येक व्यक्ति *मत्सर*, अर्थात् ईर्ष्यालु कहलाता है। इसीलिए *श्रीमद्भागवत* के प्रारम्भ में कहा गया है कि भागवत *निर्मत्सरों* के लिए है। दूसरे शब्दों में, जो ईर्ष्या के कल्मष से मुक्त नहीं है, वह कृष्णचेतना में अग्रसर नहीं हो सकता। किन्तु कृष्णचेतना में यदि कोई किसी से आगे निकल जाता है, तो भक्त सोचता है कि वह व्यक्ति कितना भाग्यवान है, जो भक्तिभाव में आगे बढ़ गया है। इस प्रकार का *निर्मत्सर* वैकुण्ठ की विशेषता है। फिर भी, जब कोई अपने प्रतियोगी से ईर्ष्या करता है, तो वह भौतिक प्राणी होता है। इस भौतिक जगत में पदापित देवता तक ईर्ष्या से मुक्त नहीं हैं।

यत्र यज्ञपतिः साक्षाद्भगवान्हरिरीश्वरः ।

अन्वभूयत सर्वात्मा सर्वलोकगुरुः प्रभुः ॥ ३ ॥

#### शब्दार्थ

यत्र—जहाँ; यज्ञ-पतिः—समस्त यज्ञों का भोक्ता; साक्षात्—प्रत्यक्ष; भगवान्—भगवान्; हरिः—विष्णु ने; ईश्वरः—परम नियन्ता; अन्वभूयत—दर्शन दिया; सर्व-आत्मा—प्रत्येक का परमात्मा; सर्व-लोक-गुरुः—समस्त लोकों का स्वामी अथवा हर एक का शिक्षक; प्रभुः—स्वामी।

भगवान् विष्णु हर प्राणी के हृदय में परमात्मा-रूप में स्थित हैं। वे समस्त लोकों के स्वामी तथा समस्त यज्ञ-फलों के भोक्ता हैं। वे राजा पृथु द्वारा किये गये यज्ञों में साक्षात् उपस्थित थे।

तात्पर्य : इस श्लोक में आगत *साक्षात्* शब्द महत्त्वपूर्ण है। पृथु महाराज भगवान् विष्णु के *शक्त्यावेश* अवतार थे। वस्तुतः पृथु महाराज एक जीवात्मा थे, किन्तु उन्हें भगवान् विष्णु से विशेष शक्तियाँ प्राप्त थीं। फिर भी भगवान् विष्णु तो साक्षात् भगवान् ठहरे, अतः वे *विष्णुतत्त्व* कोटि में आते हैं। महाराज पृथु *जीवतत्त्व* की कोटि में थे। विष्णुतत्त्व ईश्वर का सूचक है, किन्तु जीवतत्त्व ईश्वर के अंश का। जब ईश्वर का अंश विशेष शक्तिसम्पन्न हो जाता है, तो वह *शक्त्यावेश* अवतार कहलाता है। यहाँ पर विष्णु *हरिरीश्वरः* के रूप में वर्णित हैं। भगवान् इतने दयालु हैं कि वे अपने भक्तों के सारे कष्टों को दूर कर देते हैं, अतः वे हरि कहलाते हैं। वे ईश्वर कहे जाते हैं, क्योंकि वे जो चाहें सो कर सकते हैं। वे परम नियन्ता हैं। परम ईश्वर पुरुषोत्तम तो भगवान् श्रीकृष्ण हैं। वे अपनी शक्ति का प्रदर्शन ईश्वर अथवा परम नियन्ता के रूप में करते हैं, जब वे *भगवद्गीता* (१८.६६) में अपने भक्त को आश्चस्त करते हैं, “समस्त धर्मों को त्याग कर मेरी शरण में आ। मैं समस्त पापों से तेरा उद्धार कर दूँगा। तू डर

मत ।” यदि भक्त केवल उनकी शरण ग्रहण कर ले तो वे उसे समस्त पापकर्मों के फल से मुक्त कर देते हैं। यहाँ पर उन्हें *सर्वात्मा* कहा गया है, जिसका अर्थ यह है कि वे प्रत्येक जीव के हृदय में परमात्मा रूप में स्थित हैं और इसी कारण वे सबके शिक्षक (गुरु) हैं। यदि हम *भगवद्गीता* में श्रीकृष्ण द्वारा दिये गये उपदेशों को ग्रहण करने का सौभाग्य प्राप्त कर सकें तो हमारे जीवन तुरन्त सार्थक हो जाएँ। भगवान् श्रीकृष्ण से बढ़कर मानव समाज को भला कौन शिक्षा दे सकता है ?

अन्वितो ब्रह्मशर्वाभ्यां लोकपालैः सहानुगैः ।  
उपगीयमानो गन्धर्वैर्मुनिभिश्चाप्सरोगणैः ॥ ४ ॥

#### शब्दार्थ

अन्वितः—साथ में; ब्रह्म—ब्रह्मा द्वारा; शर्वाभ्याम्—तथा शिव द्वारा; लोक-पालैः—विभिन्न लोकों के प्रधानों द्वारा; सह अनुगैः—अपने-अपने अनुचरों के साथ; उपगीयमानः—प्रशंसित होकर; गन्धर्वैः—गन्धर्वलोक के वासियों द्वारा; मुनिभिः—मुनियों द्वारा; च—भी; अप्सरः-गणैः—अप्सरालोक के वासियों द्वारा।

जब भगवान् विष्णु यज्ञस्थल में प्रकट हुए तो उनके साथ ब्रह्माजी, शिवजी तथा सभी लोकपाल एवं उनके अनुचर भी थे। जब वे वहाँ प्रकट हुए तो गन्धर्वलोक-निवासियों, ऋषियों तथा अप्सरा लोक के निवासियों सभी ने मिलकर प्रशंसा की।

सिद्धा विद्याधरा दैत्या दानवा गुह्यकादयः ।  
सुनन्दनन्दप्रमुखाः पार्षदप्रवरा हरेः ॥ ५ ॥

#### शब्दार्थ

सिद्धाः—सिद्ध लोक के वासी; विद्याधराः—विद्याधर लोक के वासी; दैत्याः—दिति के वंशज, दैत्य; दानवाः—असुर; गुह्यक-आदयः—यक्ष इत्यादि.; सुनन्द-नन्द-प्रमुखाः—सुनन्द तथा नन्द इत्यादि भगवान् के मुख्य पार्षद; पार्षद—पार्षद, सहयोगी; प्रवराः—प्रतिष्ठित; हरेः—भगवान् के।

भगवान् के साथ में सिद्धलोक तथा विद्याधर लोक के वासी, दिति की समस्त सन्तानें, असुर तथा यक्षगण थे। उनके साथ सुनन्द तथा नन्द इत्यादि उनके प्रमुख पार्षद भी थे।

कपिलो नारदो दत्तो योगेशाः सनकादयः ।  
तमन्वीयुर्भागवता ये च तत्सेवनोत्सुकाः ॥ ६ ॥

#### शब्दार्थ

कपिलः—कपिल मुनि; नारदः—नारद ऋषि; दत्तः—दत्तात्रेय; योग-ईशाः—योगशक्ति के स्वामी; सनक-आदयः—सनक इत्यादि; तम्—भगवान् विष्णु; अन्वीयुः—पीछे-पीछे; भागवताः—परम भक्तजन; ये—सभी जो; च—भी; तत्-सेवन-उत्सुकाः—भगवान् की सेवा के लिए सदैव उत्सुक रहने वाले।

भगवान् विष्णु के साथ भगवान् की सेवा में सदैव लगे रहनेवाले परम भक्तगण अर्थात् कपिल, नारद तथा दत्तात्रेय नामक ऋषि और साथ ही साथ सनत्कुमार इत्यादि योगेश्वर उस यज्ञ में सम्मिलित हुए।

यत्र धर्मदुग्धा भूमिः सर्वकामदुग्धा सती ।  
दोग्धि स्माभीप्सितानर्थान्यजमानस्य भारत ॥ ७ ॥

#### शब्दार्थ

यत्र—जहाँ; धर्म-दुग्धा—धर्म हेतु प्रचुर दूध को उत्पन्न करनेवाली; भूमिः—पृथ्वी; सर्व-काम—समस्त इच्छाएँ; दुग्धा—दूध रूप में प्रदान करनेवाली; सती—गाय; दोग्धि स्म—पूर्ण किया; अभीप्सितान्—इच्छाओं को; अर्थान्—वस्तुएँ; यजमानस्य—यज्ञकर्ता के; भारत—हे विदुर।

हे विदुर, उस महान् यज्ञ में सारी भूमि दूध देनेवाली कामधेनु बन गई और इस प्रकार यज्ञ सम्पन्न करने से जीवन की समस्त आवश्यकताएँ पूरी होने लगीं।

तात्पर्य : इस श्लोक में धर्मदुग्धा शब्द महत्त्वपूर्ण है, जो कामधेनु का सूचक है। कामधेनु को सुरभि भी कहते हैं। सुरभि गाएँ वैकुण्ठ में पायी जाती हैं और जैसाकि ब्रह्म संहिता में कहा गया है, भगवान् श्रीकृष्ण इन गायों के पालन में लगे रहते हैं—सुरभिरभिपालयन्तम्। सुरभि गाय को चाहे जितनी बार दुहा जाय और चाहे जितने दूध की आवश्यकता हो, वह देती है। दूध की आवश्यकता अनेक दुग्ध-पदार्थों के बनाने में होती है, विशेष रूप से घी की आवश्यकता बड़े-बड़े यज्ञों में पड़ती है। जब तक हम निर्दिष्ट किय गये गये यज्ञ नहीं करते हमारी जीवन-आवश्यकताएँ रुक जाती हैं। भगवद्गीता में पुष्टि हुई है कि ब्रह्माजी ने यज्ञ सहित मानव समाज की सृष्टि की। यज्ञ का अर्थ है भगवान् को तुष्ट रखने के लिए कार्य करना। किन्तु इस युग में ऐसे सुयोग्य ब्राह्मण खोज पाना कठिन है, जो वेदों के अनुसार यज्ञ करा सकें। अतः श्रीमद्भागवत में संस्तुति की गई है कि संकीर्तन-यज्ञ करके तथा यज्ञ पुरुष भगवान् चैतन्य को प्रसन्न करके मनुष्य प्राचीन समय में यज्ञों से प्राप्त होनेवाले सभी फलों को प्राप्त कर सकता है (यज्ञै संकीर्तन-प्रायैः)। राजा पृथु तथा अन्यो ने बड़े-बड़े यज्ञ सम्पन्न कर के पृथ्वी से जीवन की सभी आवश्यकताएँ प्राप्त कीं। अब फिर से अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ ने इस संकीर्तन-यज्ञ के आन्दोलन को प्रारम्भ किया है। मनुष्यों को चाहिए कि इस महान् यज्ञ का लाभ उठाएँ और संघ के कार्यों में सम्मिलित हों। तब किसी प्रकार का अभाव नहीं

रहेगा। यदि *संकीर्तन-यज्ञ* किया जाये तो औद्योगिक उपक्रमों में भी कोई कठिनाई नहीं रहेगी। अतः इस पद्धति का जीवन के समस्त अंगों—सामाजिक, राजनीतिक, औद्योगिक, व्यापारिक आदि—में सूत्रपात किया जाना चाहिए। तब सभी कुछ शान्तिपूर्वक तथा सरलता से चलने लगेगा।

ऊहुः सर्वरसान्नद्यः क्षीरदध्यन्नगोरसान् ।

तरवो भूरिवर्ष्माणः प्रासूयन्त मधुच्युतः ॥ ८ ॥

#### शब्दार्थ

ऊहुः—लाती थी; सर्व-रसान्—सभी प्रकार के स्वाद; नद्यः—नदियाँ; क्षीर—दूध; दधि—दही; अन्न—तरह-तरह के अनाज; गो-रसान्—अन्य दूध की वस्तुएँ; तरवः—वृक्ष; भूरि—अधिक; वर्ष्माणः—देहधारी; प्रासूयन्त—फल देने लगे; मधु-च्युतः—मधु चुवाते हुए।

बहती हुई नदियाँ समस्त प्रकार के स्वाद—मीठा, खट्टा, चटपटे इत्यादि—प्रदान करने लगीं तथा बड़े-बड़े वृक्ष प्रचुर मात्रा में फल तथा मधु देने लगे। गायें पर्याप्त हरी घास खाकर प्रभूत मात्रा में दूध, दही, घी तथा अन्य आवश्यक वस्तुएँ देने लगीं।

तात्पर्य : यदि नदियाँ प्रदूषित न हों और उन्हें अपने ढंग से ही बहने दिया जाये, अथवा कभी-कभी भूमि को बाढ़-जल से भरने दिया जाये तो भूमि इतनी अपजारु हो सकती है कि सभी प्रकार के शाक, वृक्ष तथा पौधे उत्पन्न होने लगे। *रस* शब्द का अर्थ स्वाद है। वास्तव में सभी रस पृथ्वी के भीतर के स्वाद हैं और ज्योंही धरती में बीज बोये जाते हैं कि विभिन्न पौधे फूट कर बाहर निकलते हैं और हमारे विभिन्न स्वादों की पूर्ति करते हैं। उदाहरणार्थ, गन्ने के रस से मीठे स्वाद की तथा संतरे के रस से खटमिठे स्वाद की पूर्ति होती है। इसी प्रकार अनन्नास तथा अन्य फल हैं। साथ ही मिर्च भी है जिनसे चटपटे स्वाद की पूर्ति होती है। यद्यपि पृथ्वी वही है, किन्तु विभिन्न बीजों के कारण विभिन्न स्वाद उत्पन्न होते हैं। जैसाकि श्रीकृष्ण ने *भगवद्गीता* (७.१०) में कहा है—*बीजं मां सर्वभूतानाम्*—मैं सारे अस्तित्वों का मूल आदि बीज हूँ। इस तरह से सभी प्रकार की व्यवस्था रहती है। और जैसाकि *ईशोपनिषद्* में कथित है—*पूर्णम् इदम्*। भगवान् ने समस्त आवश्यक वस्तुओं के उत्पन्न किये जाने की पूरी व्यवस्था कर रखी है। अतः लोगों को यज्ञ-पुरुष भगवान् विष्णु को प्रसन्न करना सीखना चाहिए। निस्सन्देह, जीवात्मा का प्रमुख कार्य भगवान् को प्रसन्न रखना है, क्योंकि जीवात्मा भगवान् का ही अंश है। अतः सारी प्रणाली इस प्रकार व्यवस्थित है कि जीवात्मा उसी तरह कर्तव्य निभाए जैसी कि उसे

स्वाभाविक स्थिति प्राप्त है। ऐसा न करने से समस्त जीवात्माओं को कष्ट उठाना पड़ेगा। यही प्रकृति का नियम है।

*तरवो भूरिवर्ष्माणः* शब्दों से बड़े-बड़े और अत्यधिक बड़े हुए वृक्षों की जानकारी मिलती है। इन वृक्षों का कार्य मधु तथा तरह-तरह के फल उत्पन्न करना है। दूसरे शब्दों में, जंगलों का भी कार्य मधु, फल तथा फूल प्रदान करना होता है। दुर्भाग्यवश कलियुग में, यज्ञ के अभाव में जंगलों में बड़े-बड़े वृक्ष होते हुए भी उनसे पर्याप्त फल तथा मधु प्राप्त नहीं होता। इस प्रकार सब कुछ यज्ञ पर निर्भर करता है। इस युग में यज्ञ करने का सर्वश्रेष्ठ साधन सारे संसार में संकीर्तन-आन्दोलन का विस्तार करना है।

सिन्धवो रत्निकरान्गिरयोऽन्नं चतुर्विधम् ।

उपायनमुपाजहः सर्वे लोकाः सपालकाः ॥ ९ ॥

#### शब्दार्थ

सिन्धवः—समुद्र; रत्न-निकरान्—रत्नों के समूह; गिरयः—पर्वत; अन्नम्—खाद्य वस्तुएँ; चतुः-विधम्—चारों प्रकार की; उपायनम्—उपहार; उपाजहः—ले आय; सर्वे—समस्त; लोकाः—सभी लोकों के मनुष्य; स-पालकाः—अपने-अपने लोक-पालों सहित।

सामान्य जनों तथा समस्त लोकों के प्रमुख देवों ने राजा पृथु को तरह-तरह के उपहार लाकर प्रदान किये। समुद्र अमूल्य रत्नों से तथा पर्वत रसायनों एवं उर्वरकों से पूर्ण थे। चारों प्रकार के खाद्य पदार्थ प्रभूत मात्रा में उत्पन्न होते थे।

तात्पर्य : जैसाकि *ईशोपनिषद्* में कहा गया है, इस भौतिक सृष्टि में—न केवल मनुष्यों के लिए अपितु पशुओं, सरीसृपों, जलचरों तथा वृक्षों के लिए अर्थात् जीवात्माओं के लिए सभी आवश्यक वस्तुएँ उत्पन्न करने की क्षमता है। समुद्र मोती, मूँगे तथा अन्य रत्न उत्पन्न करते हैं जिससे नियमों के पालककर्ता लोग उनका उपभोग कर सकें। इसी प्रकार पर्वत भी रसायनों से परिपूर्ण हैं, जिसके कारण उनसे निकलनेवाली नदियाँ उन रसायनों को खेतों में फैलाकर चारों प्रकार के खाद्य पदार्थों को उर्वर बनाएं। ये पदार्थ हैं चर्व्य (चबाये जानेवाले), लेह्य (चाटे जानेवाले), चूष्य (निगले जानेवाले) तथा पेय (पिये जानेवाले)।

पृथु महाराज की अभ्यर्थना अन्य लोकवासियों तथा उनके अधिष्ठाता देवों द्वारा की गई। उन्होंने तरह-तरह के उपहार दिये और उन्हें उपयुक्त राजा के रूप में स्वीकार किया, जिसकी व्यवस्था से

विश्व-भर का प्रत्येक नागरिक सुखी तथा सम्पन्न बन सके। इस श्लोक में स्पष्ट संकेत है कि समुद्र रत्नोत्पादन के लिए हैं, किन्तु कलियुग में इनका मुख्य उपयोग मछली पकड़ने के लिए किया जाता है। शूद्रों तथा निर्धन मनुष्यों को मछली पकड़ने दिया जाता था, किन्तु उच्च वर्ग के लोग, यथा क्षत्रिय तथा वैश्य मोती, मूँगे तथा रत्न एकत्र किया करते थे। यद्यपि निर्धन व्यक्ति तनों मछली पकड़ते थे, किन्तु उनका मूल्य मूँगे या मोती के एक टुकड़े के बराबर भी नहीं होता था। इस युग में उर्वरकों के उत्पादन हेतु अनेक बड़े-बड़े कारखाने स्थापित हुए हैं, किन्तु जब भगवान् यज्ञ करने से प्रसन्न होते हैं, तो पर्वत स्वतः इतना उर्वरक उत्पन्न करते हैं कि खेतों में खाद्य पदार्थों का अच्छा उत्पादन होता है। सब कुछ मनुष्य द्वारा यज्ञ की वैदिक विधियों को स्वीकार करने पर निर्भर करता है।

इति चाधोक्षजेशस्य पृथोस्तु परमोदयम् ।

असूयन्भगवानिन्द्रः प्रतिघातमचीकरत् ॥ १० ॥

#### शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; च—भी; अधोक्षज-ईशस्य—अधोक्षज को पूज्य भगवान् माननेवाले; पृथोः—राजा पृथु का; तु—तब; परम—सर्वोच्च; उदयम्—ऐश्वर्य; असूयन्—ईर्ष्यावश; भगवान्—अत्यन्त शक्तिमान्; इन्द्रः—स्वर्ग के राजा ने; प्रतिघातम्—विघ्न; अचीकरत्—चेष्टा की।

राजा पृथु पुरुषोत्तम भगवान् पर आश्रित थे जिन्हें अधोक्षज कहा जाता है। राजा पृथु ने इतने यज्ञ सम्पन्न किये थे कि ईश्वर की कृपा से उनका अत्यधिक उत्कर्ष हुआ था। किन्तु उनका यह ऐश्वर्य स्वर्ग के राजा इन्द्र से न सहा गया और उसने इसमें विघ्न डालने की चेष्टा की।

तात्पर्य : इस श्लोक में अधोक्षज, भगवान् इन्द्रः तथा पृथोः शब्दों से तीन पृथक् उद्देश्य व्यक्त हुए हैं। विष्णु के अवतार होते हुए भी आखिरकार वे जीवात्मा तो थे ही, अतः उन्हें भगवान् का भक्त होना ही चाहिए था। भले ही भक्त भगवान् का शक्त्यावेश अवतार क्यों न हो उसे भगवान् के साथ अपने सम्बन्ध को भूलना नहीं चाहिए। कलियुग में अनेक स्वनिर्मित अवतार या यूँ कहें धूर्त हैं, जो अपने को भगवान् घोषित करते हैं। भगवान् इन्द्र शब्द बताता है कि जीवात्मा राजा इन्द्र के समान शक्तिशाली एवं पूज्य हो सकता है क्योंकि राजा इन्द्र भी सामान्य जीवात्मा है और उसमें भी बद्धजीव के चारों दोष विद्यमान हैं। इस श्लोक में इन्द्र को भगवान् कहा गया है, जिसका प्रयोग सामान्यतः भगवान् के ही प्रसंग में होता है। यहाँ पर इन्द्र को भगवान् इसलिए कहा गया है, क्योंकि उसके हाथ में अत्यधिक

शक्ति है। वह भगवान् होकर भी भगवान् के अवतार राजा पृथु से द्वेष रखता है। भौतिक जीवन के दोष इतने प्रबल हैं कि कल्मष के कारण राजा इन्द्र ईश्वर के अवतार से ईर्ष्या कर रहा है।

अतः हमें यह समझने का प्रयास करना चाहिए कि आखिर बद्धजीव कैसे पतित बनता है। राजा पृथु का ऐश्वर्य भौतिक परिस्थितियों पर आश्रित नहीं था। जैसा इस श्लोक में वर्णित है वे *अधोक्षज* के परम भक्त थे। *अधोक्षज* शब्द भगवान् के लिए आया है, जो मन तथा शब्दों की अभिव्यक्ति के परे हैं। किन्तु भगवान् अपने भक्त के समक्ष अपने आदि रूप में, जो आनन्द तथा ज्ञान से युक्त है, प्रकट होते हैं। इस प्रकार भक्त अपने समक्ष भगवान् का दर्शन करता है, यद्यपि भगवान् हमारी इन्द्रियों की अभिव्यक्ति तथा हमारी प्रत्यक्ष अनुभूति के परे हैं।

चरमेणाश्वमेधेन यजमाने यजुष्यतिम् ।  
वैन्ये यज्ञपशुं स्पर्धन्नपोवाह तिरोहितः ॥ ११ ॥

#### शब्दार्थ

चरमेण—अन्तिम; अश्व-मेधेन—अश्वमेध यज्ञ द्वारा; यजमाने—यज्ञ करते समय; यजुः-पतिम्—यज्ञ के स्वामी, विष्णु को प्रसन्न करने के लिए; वैन्ये—राजा वेन के पुत्र; यज्ञ-पशुम्—यज्ञ में बलि होनेवाला पशु; स्पर्धन्—ईर्ष्यावश; अपोवाह—चुरा लिया; तिरोहितः—अदृश्य।

जिस समय महाराज पृथु अन्तिम अश्वमेध यज्ञ कर रहे थे, तो इन्द्र ने अदृश्य होकर यज्ञ का घोड़ा चुरा लिया। उसने राजा पृथु के प्रति ईर्ष्या भाव से ही ऐसा किया।

तात्पर्य : राजा इन्द्र को *शतक्रतु* कहा जाता है, क्योंकि उसने सौ अश्वमेध यज्ञ सम्पन्न किये थे। किन्तु यह हमें ज्ञात होना चाहिए कि यज्ञ में बलि किये गये पशु मारे नहीं जाते थे। यदि यज्ञ के समय वैदिक मंत्रों का ठीक से उच्चारण किया जाये तो बलि दिया गया पशु नवीन जीवन प्राप्त करके बाहर आ जाता था। यज्ञ की सफलता की यही कसौटी थी। जब राजा पृथु एक सौ यज्ञ कर रहे थे तो इन्द्र को ईर्ष्या हुई, क्योंकि वह नहीं चाहता था कि कोई उससे आगे निकल जाये। सामान्य जीवात्मा होने के कारण उसे राजा पृथु से ईर्ष्या होने लगी। उसने अदृश्य होकर ये यज्ञ का घोड़ा चुरा लिया जिससे यज्ञ की कार्यवाही में व्यवधान पड़ गया।

तमत्रिर्भगवानैक्षत्त्वरमाणं विहायसा ।



आमुक्तमिव पाखण्डं योऽधर्मे धर्मविभ्रमः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

तम्—राजा इन्द्र को; अत्रिः—अत्रि मुनि; भगवान्—अत्यन्त शक्तिशाली; ऐक्षत्—देख सका; त्वरमाणम्—तेजी से बढ़ते हुए; विहायसा—आकाश में; आमुक्तम् इव—मुक्त पुरुष की भाँति; पाखण्डम्—पाखण्डी, धूर्त; यः—जो; अधर्मे—अधर्म में; धर्म—धर्म; विभ्रमः—धोखे से, भ्रमवश।

घोड़े को ले जाते समय राजा इन्द्र ने ऐसा वेष धारण कर रखा था जिससे वह मुक्त पुरुष जान पड़े। वास्तव में उसका यह वेष ठगी के रूप में था, क्योंकि इससे झूठे ही धर्म का बोध हो रहा था। इस प्रकार जब इन्द्र आकाश मार्ग में पहुँचा तो अत्रि मुनि ने उसे देख लिया और समझ गये कि स्थिति क्या है।

तात्पर्य : इस श्लोक में प्रयुक्त पाखंड या पाषंड शब्द से ऐसे धूर्त का बोध होता है, जो अपने को धार्मिक व्यक्ति के रूप में प्रस्तुत करता है, किन्तु वास्तव में पापी होता है। इन्द्र ने दूसरों को धोखा देने के लिए केसरिया (गेरुआ) वस्त्र धारण कर रखा था। इस केसरिया वेष का अनेक धूर्तों ने दुष्प्रयोग करते हुए अपने को मुक्त पुरुष या ईश्वर का अवतार कह कर प्रस्तुत किया है। इस प्रकार से लोग ठगे जाते हैं। जैसाकि हमने बारम्बार कहा है, बद्धजीव में ठगने की प्रवृत्ति होती है, अतः राजा इन्द्र जैसे व्यक्ति में भी यह प्रवृत्ति देखी जाती है। इससे यह समझा जा सकता है कि राजा इन्द्र तक भौतिक कल्मष से मुक्त नहीं। इसीलिए आमुक्तम् इव शब्दों का प्रयोग हुआ है। संन्यासियों द्वारा धारण किया गया केसरिया बाना यह बताता है कि वे सांसारिकता से विरक्त होकर भगवान् की सेवा में अनुरक्त रहते हैं। ऐसा ही भक्त वास्तविक संन्यासी या मुक्त पुरुष है। भगवद्गीता (६.१) में कहा गया है—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।

स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥

“जो पुरुष कर्मफल में अनासक्त रह कर अपने कर्तव्य का पालन करता है, वही सच्चा संन्यासी और योगी है; न की अग्नि को त्यागनेवाला अथवा कर्म को त्यागनेवाला।”

दूसरे शब्दों में, जो अपने कर्मफलों को भगवान् को अर्पित कर देता है, वही संन्यासी तथा योगी है। पृथु महाराज के यज्ञकाल से ही ठगनेवाले, संन्यासी तथा योगी होते आये हैं। यह ठगविद्या राजा इन्द्र द्वारा मूर्खता से चालू की गई। किसी-किसी युग में ऐसी ठगविद्या का बोलबाला रहता है और

किसी युग में वह इतनी प्रबल नहीं होती। यह तो संन्यासियों का कर्तव्य है कि वे सतर्क रहें। जैसाकि भगवान् चैतन्य द्वारा कहा गया है,— *संन्यासीर अल्प छिद्र सर्वलोके गाय*—संन्यासी के चरित्र का एक छोटा-सा धब्बा भी जनता द्वारा बढ़ा दिया जाता है ( *चैतन्य चरि., मध्य १२.५१*)। अतः जब तक मनुष्य अत्यन्त निष्ठावान् तथा गम्भीर न हो, उसे संन्यास नहीं ग्रहण करना चाहिए। उसे जनता को ठगने के लिए इसे नहीं अपनाना चाहिए। इस कलियुग में संन्यास न धारण करना ही श्रेयस्कर है, क्योंकि इस युग में उत्तेजनाएँ अत्यन्त प्रबल हैं। केवल सम्मान्य तथा आत्म-ज्ञान में बढ़े-चढ़े व्यक्ति को ही संन्यास धारण करना चाहिए। जीविकोपार्जन या अन्य भौतिक उद्देश्य से इस आश्रम को स्वीकार नहीं करना चाहिए।

अत्रिणा चोदितो हन्तुं पृथुपुत्रो महारथः ।  
अन्वधावत सङ्क्रुद्धस्तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ॥ १३ ॥

#### शब्दार्थ

अत्रिणा—अत्रि मुनि के द्वारा; चोदितः—कहने से, प्रेरणा से; हन्तुम्—मारने के लिए; पृथु-पुत्रः—राजा पृथु के पुत्र ने; महारथः—परमवीर; अन्वधावत—पीछा किया; सङ्क्रुद्धः—अत्यन्त क्रुद्ध; तिष्ठ तिष्ठ—ठहरो ठहरो; इति—इस प्रकार; च—भी; अब्रवीत्—कहा।

जब अत्रि मुनि ने राजा पृथु के पुत्र को राजा इन्द्र की चाल बतायी तो वह अत्यन्त क्रुद्ध हुआ और “ठहरो! ठहरो!!” कहते हुए इन्द्र को मारने के लिए उसका पीछा करने लगा।

तात्पर्य : जब कोई क्षत्रिय अपने शत्रु को ललकारता है, तो तिष्ठ तिष्ठ शब्दों का प्रयोग करता है। लड़ता हुए क्षत्रिय युद्धभूमि से भाग नहीं सकता। किन्तु जब कायरतावश कोई क्षत्रिय युद्धभूमि से शत्रु को अपनी पीठ दिखाता भागता है, तो उसे तिष्ठ तिष्ठ शब्दों से ललकारा जाता है। सच्चा क्षत्रिय अपने शत्रु को कभी न तो पीछे से मारता है और न कभी युद्ध में पीठ दिखाता है। क्षत्रिय नियम तथा अनुभाव के अनुसार वह या तो विजयी होता है या युद्धभूमि में मरता है। स्वर्ग का राजा होने से यद्यपि राजा इन्द्र अत्यन्त सम्मानित था, किन्तु यज्ञ का घोड़ा चुराने से वह पतित हो गया था। अतः क्षत्रिय नियमों की अवहेलना करके वह भागा जा रहा था। राजा पृथु के पुत्र ने *तिष्ठ तिष्ठ* शब्दों से उसे ललकारा।

तं तादृशाकृतिं वीक्ष्य मेने धर्मं शरीरिणम् ।  
जटिलं भस्मनाच्छन्नं तस्मै बाणं न मुञ्चति ॥ १४ ॥

**शब्दार्थ**

तम्—उसको; तादृश—आकृतिम्—वैसे वेश में; वीक्ष्य—देख कर; मेने—समझा; धर्मम्—पवित्र या धार्मिक; शरीरिणम्—देहधारी; जटिलम्—जटाजूट; भस्मना—राख से; आच्छन्नम्—सारे शरीर को पोते; तस्मै—उस पर; बाणम्—बाण; न—नहीं; मुञ्चति—छोड़ा।

राजा इन्द्र ने संन्यासी का कपट-वेष धारण कर रखा था, उसके सिर पर जटा-जूट था और सारा शरीर राख से पुता था। ऐसे वेश में देखकर राजा पृथु के पुत्र ने इन्द्र को धर्मात्मा तथा पवित्र संन्यासी समझा, अतः उसने उस पर अपने बाण नहीं छोड़े।

वधान्निवृत्तं तं भूयो हन्तवेऽत्रिरचोदयत् ।  
जहि यज्ञहनं तात महेन्द्रं विबुधाधमम् ॥ १५ ॥

**शब्दार्थ**

वधात्—मारने से; निवृत्तम्—रुके; तम्—पृथु के पुत्र को; भूयः—पुनः; हन्तवे—मारने के लिए; अत्रिः—अत्रि मुनि ने; अचोदयत्—प्रेरित किया; जहि—मारो; यज्ञ-हनम्—यज्ञ में बाधक; तात—हे पुत्र; महा-इन्द्रम्—स्वर्ग के महान् राजा इन्द्र को; विबुध-अधमम्—समस्त देवताओं में निम्नतम।

जब अत्रि मुनि ने देखा कि राजा पृथु के पुत्र ने इन्द्र को नहीं मारा वरन् उससे धोखा खाकर वह लौट आया है, तो मुनि ने पुनः उसे स्वर्ग के राजा को मारने का आदेश दिया, क्योंकि उनके विचार से इन्द्र राजा पृथु के यज्ञ में विघ्न डाल कर समस्त देवताओं में सबसे अधम बन चुका था।

एवं वैन्यसुतः प्रोक्तस्त्वरमाणं विहायसा ।  
अन्वद्रवदभिक्रुद्धो रावणं गृधराडिव ॥ १६ ॥

**शब्दार्थ**

एवम्—इस प्रकार; वैन्य-सुतः—राजा पृथु का पुत्र; प्रोक्तः—आज्ञा किये जाने पर; त्वरमाणम्—तेजी से आगे बढ़ रहा, इन्द्र; विहायसा—आकाश में; अन्वद्रवत्—पीछा करने लगा; अभिक्रुद्धः—अत्यन्त क्रुद्ध होकर; रावणम्—रावण को; गृध-राट्—गृद्धराज, जटायु; इव—सदृश।

इस प्रकार सूचित किये जाने पर राजा वेन के पौत्र ने तुरन्त इन्द्र का पीछा करना प्रारम्भ किया, जो तेजी से आकाश से होकर भाग रहा था। वह उस पर अत्यन्त कुपित हुआ और उसका पीछा करने लगा मानो गृद्धराज रावण का पीछा कर रहा हो।

सोऽश्वं रूपं च तद्धित्वा तस्मा अन्तर्हितः स्वराट् ।  
वीरः स्वपशुमादाय पितुर्यज्ञमुपेयिवान् ॥ १७ ॥

**शब्दार्थ**

सः—राजा इन्द्र; अश्वम्—घोड़ा; रूपम्—साधु पुरुष का छद्म वेश; च—भी; तत्—वह; हित्वा—त्याग कर; तस्मै—उसके लिए; अन्तर्हितः—अप्रकट, लुप्त; स्व-राट्—इन्द्र; वीरः—परम वीर; स्व-पशुम्—अपना पशु; आदाय—लाकर; पितुः—अपने पिता के; यज्ञम्—यज्ञ में; उपेयिवान्—लौट आया।

जब इन्द्र ने देखा कि पृथु का पुत्र उसका पीछा कर रहा है, तो उसने तुरन्त ही अपना कपट-वेश त्याग दिया और घोड़े को छोड़ कर वह उस स्थान से अन्तर्धान हो गया। महाराज पृथु का महान् वीर पुत्र घोड़े को लेकर अपने पिता के यज्ञस्थल में लौट आया।

तत्तस्य चाद्भुतं कर्म विचक्ष्य परमर्षयः ।  
नामधेयं ददुस्तस्मै विजिताश्व इति प्रभो ॥ १८ ॥

**शब्दार्थ**

तत्—उस; तस्य—उसके; च—भी; अद्भुतम्—विस्मयकारी; कर्म—पराक्रम; विचक्ष्य—देख कर; परम-ऋषयः—बड़े-बड़े मुनियों ने; नामधेयम्—नाम; ददुः—प्रदान किया; तस्मै—उसको; विजित-अश्वः—विजिताश्व ( जिसने घोड़े को जीत लिया ); इति—इस प्रकार; प्रभो—हे विदुर महाशय।

हे विदुर महाशय, जब ऋषियों ने राजा पृथु के पुत्र का आश्चर्यजनक पराक्रम देखा तो सबों ने उसका नाम विजिताश्व रखना स्वीकार किया।

उपसृज्य तमस्तीव्रं जहाराश्वं पुनर्हरिः ।  
चषालयूपतश्छन्नो हिरण्यरशनं विभुः ॥ १९ ॥

**शब्दार्थ**

उपसृज्य—उत्पन्न करके; तमः—अंधकार; तीव्रम्—घना; जहार—ले गया; अश्वम्—घोड़ा; पुनः—फिर से; हरिः—राजा इन्द्र ने; चषाल-यूपतः—पशु की बलि दिये जानेवाले काठ के यंत्र से; छन्नः—घिर कर; हिरण्य-रशनम्—सोने की जंजीर से बँधा; विभुः—अत्यन्त शक्तिमान।

हे विदुर, स्वर्ग का राजा तथा अत्यन्त शक्तिशाली होने के कारण इन्द्र ने तुरन्त यज्ञस्थल पर घोर अंधकार फैला दिया। इस प्रकार पूरे स्थल को प्रच्छन्न करके उसने पुनः वह घोड़ा हर लिया जो बलि-स्थल पर काष्ठ-यंत्र के समीप सोने की जंजीर से बँधा था।

अत्रिः सन्दर्शयामास त्वरमाणं विहायसा ।  
कपालखट्वाङ्गधरं वीरो नैनमबाधत ॥ २० ॥

**शब्दार्थ**

अत्रिः—अत्रि मुनि ने; सन्दर्शयाम् आस—दिखलाया; त्वरमाणम्—तेजी से जाते हुए; विहायसा—आकाश में; कपाल-  
खट्वाङ्ग—लाठी के ऊपर खोपड़ी टाँगे; धर्म—धारण किये; वीरः—वीर ( राजा पृथु का पुत्र ); न—नहीं; एनम्—स्वर्ग का  
राजा, इन्द्र; अबाधत—मारा ।

अत्रि मुनि ने राजा पृथु के पुत्र को पुनः दिखलाया कि इन्द्र आकाश से होकर भागा जा रहा है। परम वीर पृथु-पुत्र ने पुनः उसका पीछा किया। किन्तु जब उसने देखा कि उसने हाथ में जो दण्ड धारण कर रखा है उस पर खोपड़ी लटक रही है और वह पुनः संन्यासी वेश में है, तो उसने उसे मारना उचित नहीं समझा।

अत्रिणा चोदितस्तस्मै सन्दधे विशिखं रुषा ।

सोऽश्वं रूपं च तद्धित्वा तस्थावन्तर्हितः स्वराट् ॥ २१ ॥

#### शब्दार्थ

अत्रिणा—अत्रि मुनि द्वारा; चोदितः—प्रेरित; तस्मै—इन्द्र के लिए; सन्दधे—स्थापित किया; विशिखम्—अपना तीर; रुषा—  
क्रोध से; सः—राजा इन्द्र; अश्वम्—घोड़े को; रूपम्—संन्यासी वेश को; च—भी; तत्—उस; हित्वा—त्याग कर; तस्थौ—वहाँ  
रहता रहा; अन्तर्हितः—अदृश्य; स्व-राट्—स्वाधीन इन्द्र।

जब अत्रि मुनि ने पुनः आदेश दिया तो राजा पृथु का पुत्र अत्यन्त कुपित हुआ और उसने अपने धनुष पर बाण चढ़ा लिया। यह देख कर राजा इन्द्र ने तुरन्त संन्यासी का वह कपट वेष त्याग दिया और घोड़े को छोड़ कर वह स्वयं अदृश्य हो गया।

वीरश्चाश्वमुपादाय पितृयज्ञमथाव्रजत् ।

तदवद्यं हरे रूपं जगृहुर्ज्ञानदुर्बलाः ॥ २२ ॥

#### शब्दार्थ

वीरः—राजा पृथु का पुत्र; च—भी; अश्वम्—घोड़े को; उपादाय—लेकर; पितृ-यज्ञम्—अपने पिता के यज्ञस्थल पर; अथ—  
तत्पश्चात्; अव्रजत्—गया; तत्—वह; अवद्यम्—निन्दनीय; हरेः—इन्द्र का; रूपम्—वेश; जगृहुः—ग्रहण कर लिया; ज्ञान-  
दुर्बलाः—जिनमें ज्ञान की कमी है।

तब परम वीर पृथु-पुत्र विजिताश्व पुनः वह घोड़ा लेकर अपने पिता के यज्ञ स्थल पर लौट आया। उसी काल से, कुछ अल्पज्ञानी पुरुष छद्म संन्यासी का वेष धारण करने लगे हैं। राजा इन्द्र ने ही इसका सूत्रपात किया था।

तात्पर्य : अनन्त काल से संन्यासी त्रिदण्ड धारण करते रहे हैं। बाद में शंकराचार्य ने एकदण्डी संन्यास का सूत्रपात किया। त्रिदण्डी संन्यासी वैष्णव संन्यासी होता है और एकदण्डी संन्यासी मायावादी संन्यासी होता है। संन्यासियों के और भी अनेक प्रकार हैं, किन्तु वे वैदिक कर्मकाण्डों द्वारा

मान्य नहीं हैं। इन्द्र ने एक छद्म संन्यास का सूत्रपात करके राजा पृथु के पुत्र विजिताश्व से अपने को छिपाने का यत्न किया। अब तो कई प्रकार के संन्यासी हैं। कुछ नंगे रहते हैं, तो कुछ एक कपाल तथा त्रिशूल धारण किये रहते हैं और *कापालिक* कहलाते हैं। इन सभी का सूत्रपात निरर्थक परिस्थितियों में हुआ। जो अल्पज्ञानी हैं, वे ही इन्हें संन्यासी मानते हैं, यद्यपि ये आध्यात्मिक प्रगति के लिए प्रामाणिक पथप्रदर्शक नहीं होते। इस समय कुछ मिशनरी संस्थाओं ने वैदिक अनुष्ठानों को जाने बिना, कुछ संन्यासी बनाये हैं, जो पापकर्म करते रहते हैं। शास्त्रों में जिन पापकर्मों को वर्जित किया गया है वे हैं—अवैध मैथुन, मादक द्रव्य सेवन, मांसाहार तथा द्यूतक्रीड़ा। ये तथाकथित संन्यासी इन सभी कृत्यों में लगे रहते हैं। वे मांस, मछली, अंडा तथा सभी कुछ खाते हैं। वे यह बहाना करके सुरापान करते हैं कि बिना शराब, मछली तथा मांस के आर्कटिक क्षेत्र के निकटवर्ती ठंडे प्रदेशों में रहना कठिन है। ये संन्यासी दीनों की सेवा के नाम पर पापकर्म करते हैं, जिससे बेचारे पशुओं का वध होता है और वे इन संन्यासियों के पेट में चले जाते हैं। जैसाकि निम्नलिखित श्लोकों में कहा गया है, ये संन्यासी नहीं, पाखण्डी हैं। वैदिक साहित्य कहता है कि जो पुरुष भगवान् नारायण को शिव या ब्रह्मा के समकक्ष रखता है, वह तुरन्त पाखण्डी हो जाता है। पुराणों का कथन है—

*यस्तु नारायणं देवं ब्रह्मारुद्रादिदैवतैः ।*

*समत्वेनैव वीक्षेत स पाषण्डी भवेद् ध्रुवम् ॥*

कलियुग में पाखण्डियों का बोलबाला है। किन्तु चैतन्य महाप्रभु ने अपना संकीर्तन-आन्दोलन चला कर इन पाखण्डियों का अन्त करने का प्रयास किया है। जो लोग अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ द्वारा चलाये जा रहे संकीर्तन-आन्दोलन का लाभ उठाते हैं, वे अपने को इन पाखण्डियों से बचा सकेंगे।

यानि रूपाणि जगृहे इन्द्रो हयजिहीर्षया ।

तानि पापस्य खण्डानि लिङ्गं खण्डमिहोच्यते ॥ २३ ॥

**शब्दार्थ**

यानि—ये सब; रूपाणि—रूप; जगृहे—स्वीकार किया; इन्द्रः—स्वर्ग के राजा इन्द्र ने; हय—घोड़ा; जिहीर्षया—चुराने की इच्छा से; तानि—उन सब; पापस्य—पापकर्मों का; खण्डानि—चिह्न; लिङ्गम्—प्रतीक; खण्डम्—खण्ड शब्द; इह—यहाँ; उच्यते—कहा जाता है।

इन्द्र ने घोड़े को चुरा ले जाने की इच्छा से संन्यासी के जो जो रूप धारण किये, वे नास्तिकवाद दर्शन के प्रतीक हैं।

तात्पर्य : वैदिक सभ्यता के अनुसार वर्णाश्रम व्यवस्था में संन्यास एक प्रमुख अंग है। मनुष्य को आचार्यों की परम्परा के अनुसार संन्यास ग्रहण करना चाहिए। किन्तु आजकल के अधिकांश तथाकथित संन्यासी ईश्वरचेतना में शून्य होते हैं। ऐसा संन्यास इन्द्र ने महाराज पृथु के ईर्ष्यावश चलाया था और आज कलियुग में फिर वही प्रकट हो रहा है। एक प्रकार से आज का कोई भी संन्यासी प्रामाणिक नहीं है। किसी को वैदिक जीवन पद्धति में कोई परिवर्तन करने का अधिकार नहीं है। यदि कोई ईर्ष्यावश ऐसा करता है, तो उसे पाखण्डी या नास्तिक मानना चाहिए। *वैष्णव तन्त्र* में कहा गया है—

यस्तु नारायणं देवं ब्रह्मारुद्रादिदैवतैः ।

समत्वेनैव वीक्षेत स पाषण्डी भवेद् ध्रुवम् ॥

यद्यपि यह वर्जित है, किन्तु ऐसे अनेक पाखण्डी हैं, जो *दरिद्र-नारायण* तथा *स्वामीनारायण* जैसे शब्द गढ़ते रहते हैं, यद्यपि ब्रह्मा तथा शिव जैसे देवता तक नारायण की समता नहीं कर सकते।

एवमिन्द्रे हरत्यश्वं वैन्ययज्ञजिघांसया ।

तद्गृहीतविसृष्टेषु पाखण्डेषु मतिर्नृणाम् ॥ २४ ॥

धर्म इत्युपधर्मेषु नग्नरक्तपटादिषु ।

प्रायेण सज्जते भ्रान्त्या पेशलेषु च वाग्मिषु ॥ २५ ॥

#### शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; इन्द्रे—जब स्वर्ग के राजा इन्द्र ने; हरति—चुरा लिया; अश्वम्—घोड़ा; वैन्य—राजा वेन के पुत्र का; यज्ञ—यज्ञ; जिघांसया—बन्द करने की इच्छा से; तत्—उसके द्वारा; गृहीत—स्वीकृत; विसृष्टेषु—त्यक्त; पाखण्डेषु—छद्म वेष के प्रति; मतिः—आकर्षण; नृणाम्—सामान्य लोगों का; धर्मः—धर्म-पद्धति; इति—इस प्रकार; उपधर्मेषु—झूठे धर्मों के प्रति; नग्न—नंगा; रक्त-पट—लाल-वेश वाला; आदिषु—इत्यादि.; प्रायेण—सामान्यतः; सज्जते—आकर्षित होता है; भ्रान्त्या—मूर्खतावश; पेशलेषु—पटु; च—तथा; वाग्मिषु—वाक्पटु, विदग्ध।

इस प्रकार पृथु महाराज के यज्ञ से घोड़े को चुराने के लिए राजा इन्द्र ने कई प्रकार के संन्यास धारण किये। कुछ संन्यासी नंगे रहते हैं और कभी-कभी लाल वस्त्र धारण करते हैं—वे कापालिक कहलाते हैं। ये इनके पापकर्मों के प्रतीक मात्र हैं। ऐसे तथाकथित संन्यासी पापियों

द्वारा अत्यन्त समाहत होते हैं, क्योंकि वे नास्तिक होते हैं और अपने को सही ठहराने के लिए तर्क प्रस्तुत करने में अत्यन्त पटु होते हैं। किन्तु हमें ज्ञान होना चाहिए कि ऐसे लोग ऊपर से धर्म के समर्थक प्रतीत होते हैं, किन्तु वास्तव में होते नहीं। दुर्भाग्यवश मोहग्रस्त व्यक्ति इन्हें धार्मिक मानकर इनकी ओर आकृष्ट होकर अपना जीवन विनष्ट कर लेते हैं।

तात्पर्य : जैसाकि *श्रीमद्भागवत* में कहा गया है, इस कलियुग में अपनी दीन दशा के कारण लोग अल्पजीवी, आत्मज्ञान से शून्य तथा झूठे धर्मों को स्वीकार करनेवाले होंगे जिससे वे सदैव मानसिक रूप से विक्षुब्ध रहेंगे। वैदिक शास्त्रों ने कलियुग में संन्यास ग्रहण करना वर्जित बताया है, क्योंकि अल्पज्ञानी लोग ठगी करने के लिए संन्यास ग्रहण कर सकते हैं। वास्तविक धर्म तो भगवान् की शरण में जाना है। हमें कृष्णभावनामृत में रहकर भगवान् की सेवा करनी चाहिए। अन्य समस्त संन्यास पद्धतियाँ तथा धर्म प्रामाणिक नहीं हैं। इस कलियुग में वे धार्मिक होने का दावा कर रहे हैं; यह अत्यधिक शोचनीय है।

तदभिज्ञाय भगवान्पृथुः पृथुपराक्रमः ।

इन्द्राय कुपितो बाणमादत्तोद्यतकार्मुकः ॥ २६ ॥

#### शब्दार्थ

तत्—वह; अभिज्ञाय—जान कर; भगवान्—ईश्वर के अवतार; पृथुः—राजा पृथु ने; पृथु-पराक्रमः—अत्यन्त पराक्रमी; इन्द्राय—इन्द्र पर; कुपितः—अत्यन्त क्रुद्ध होकर; बाणम्—बाण; आदत्त—लिया; उद्यत—तैयार; कार्मुकः—तीर।

अत्यन्त पराक्रमी महाराज पृथु ने तुरन्त अपना धनुष-बाण ले लिया और वे इन्द्र को मारने के लिए सन्नद्ध हो गये, क्योंकि इन्द्र ने इस प्रकार के अनियमित संन्यास का सूत्रपात्र किया था।

तात्पर्य : राजा का कर्तव्य है कि वह किन्हीं अधार्मिक पद्धतियों को प्रचलित न होने दे। चूँकि राजा पृथु भगवान् के अवतार थे, अतः यह उनका परम कर्तव्य था कि समस्त प्रकार के अधर्मों को नष्ट कर दें। उनके पदचिह्नों का अनुसरण करते हुए समस्त राज्य के प्रधानों को चाहिए कि वे ईश्वर के प्रामाणिक प्रतिनिधि बनें और समस्त अधर्मों का विच्छेदन करें। दुर्भाग्यवश से तो कायर हैं जो धर्मनिरपेक्ष राज्य की घोषणा करते हैं। ऐसी मनोवृत्ति धार्मिक तथा अधार्मिक पद्धतियों में समन्वय स्थापित करने की एक विधि होती है, किन्तु इससे नागरिक आत्म-उन्नति के प्रति अरुचि प्रदर्शित करने



लगते हैं। इस प्रकार स्थिति इस हद तक बिगड़ जाती है कि मानव समाज नरक बन जाता है।

तमृत्विजः शक्रवधाभिसन्धितं

विचक्ष्य दुष्प्रेक्ष्यमसह्यरंहसम् ।

निवारयामासुरहो महामते

न युज्यतेऽत्रान्यवधः प्रचोदितात् ॥ २७ ॥

#### शब्दार्थ

तम्—राजा पृथु को; ऋत्विजः—पुरोहितगण; शक्र-वध—इन्द्र का वध; अभिसन्धितम्—अपने को तैयार करते हुए; विचक्ष्य—देखकर; दुष्प्रेक्ष्यम्—देखने में भयंकर; असह्य—असहनीय; रंहसम्—जिसका वेग; निवारयाम् आसुः—उन्होंने मना किया; अहो—ओह; महा-मते—हे महापुरुष; न—नहीं; युज्यते—आपको शोभनीय; अत्र—इस यज्ञ-स्थल में; अन्य—दूसरे; वधः—वध; प्रचोदितात्—शास्त्र-विहित।

जब पुरोहितों तथा अन्य सबों ने महाराज पृथु को अत्यन्त कुपित तथा इन्द्र वध के लिए उद्यत देखा तो उन्होंने प्रार्थना की : हे महात्मा, उसे मत मारें, क्योंकि यज्ञ में केवल यज्ञ-पशु का ही वध किया जा सकता है। शास्त्रों में ऐसे ही आदेश दिये गये हैं।

तात्पर्य : पशु-वध कई उद्देश्यों से किया जाता है। इससे वैदिक मंत्रों के उचित उच्चारण की परीक्षा हो जाती है और यज्ञ-अग्नि में डाले गये पशु को नवीन जीवन प्रदान किया जाता है। भगवान् विष्णु को प्रसन्न करने के लिए किये जा रहे यज्ञ में किसी का वध नहीं होना चाहिए। तो भला इन्द्र को कैसे मारा जा सकता है, जो कि वास्तव में यज्ञ में पूजा जाता है और भगवान् का अंश है? अतः पुरोहितों ने राजा पृथु से अनुरोध किया कि वे इन्द्र का वध न करें।

वयं मरुत्वन्तमिहार्थनाशनं

ह्वयामहे त्वच्छ्रवसा हतत्विषम् ।

अयातयामोपहवैरनन्तरं

प्रसह्य राजन्जुहवाम तेऽहितम् ॥ २८ ॥

#### शब्दार्थ

वयम्—हम; मरुत्-वन्तम्—राजा इन्द्र को; इह—यहाँ; अर्थ—आपके हेतु; नाशनम्—विध्वंसक; ह्वयामहे—बुला लेंगे; त्वत्-श्रवसा—आपके सुयश से; हत-त्विषम्—पहले से अपनी शक्ति से रहित, निस्तेज; अयातयाम—इसके पूर्व कभी भी न प्रयुक्त; उपहवैः—आवाहन-मंत्रों के द्वारा; अनन्तरम्—शीघ्र ही; प्रसह्य—बलपूर्वक; राजन्—हे राजा; जुहवाम—अग्नि में बलि कर देंगे; ते—तुम्हारे; अहितम्—शत्रु।

हे राजन्, आपके यज्ञ में विघ्न डालने के कारण इन्द्र का तेज वैसे ही घट चुका है। हम अभूतपूर्व वैदिक मंत्रों के द्वारा उसका आवाहन करेंगे। वह अवश्य आएगा। इस प्रकार हम अपने

मंत्र-बल से उसे अग्नि में गिरा कर देंगे, क्योंकि वह आपका शत्रु है।

तात्पर्य : यज्ञ में वैदिक मंत्रों के समुचित उच्चारण से आश्चर्यजनक कार्य सम्पन्न किये जा सकते हैं। किन्तु कलियुग में एक भी सुयोग्य ब्राह्मण नहीं है, जो मंत्रों का सही-सही उच्चारण कर सके। अतः ऐसे महान् यज्ञों का आयोजन नहीं करना चाहिए। इस युग के लिए तो जो एकमात्र यज्ञ बतलाया गया है, वह संकीर्तन-आन्दोलन ही है।

इत्यामन्त्र्य क्रतुपतिं विदुरास्यत्विजो रुषा ।

स्रुग्घस्ताञ्जुह्वतोऽभ्येत्य स्वयम्भूः प्रत्यषेधत ॥ २९ ॥

#### शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; आमन्त्र्य—सूचित करके; क्रतु-पतिम्—यज्ञों के स्वामी, राजा पृथु को; विदुर—हे विदुर; अस्य—पृथु के; ऋत्विजः—पुरोहित; रुषा—क्रोध में; स्रुक्-हस्तान्—हाथ में स्रुवा लेकर; जुह्वतः—आहुति डालते हुए; अभ्येत्य—प्रारम्भ करते ही; स्वयम्भूः—ब्रह्माजी ने; प्रत्यषेधत—रोक दिया।

हे विदुर, राजा को यह सलाह दे चुकने पर, यज्ञ करने में जुटे हुए पुरोहितों ने क्रोध में आकर स्वर्ग के राजा इन्द्र का आवाहन किया। वे अग्नि में आहुति डालने ही वाले थे कि वहाँ पर ब्रह्माजी प्रकट हुए और उन्होंने यज्ञ आरम्भ करने से रोक दिया।

न वध्यो भवतामिन्द्रो यद्यज्ञो भगवत्तनुः ।

यं जिघांसथ यज्ञेन यस्येष्टास्तनवः सुराः ॥ ३० ॥

#### शब्दार्थ

न—नहीं; वध्यः—वध के योग्य; भवताम्—आप सबों के द्वारा; इन्द्रः—स्वर्ग का राजा इन्द्र; यत्—क्योंकि; यज्ञः—इन्द्र का नाम; भगवत्-तनुः—भगवान् के शरीर का अंश; यम्—जिसको; जिघांसथ—मारना चाह रहे हो; यज्ञेन—यज्ञ के द्वारा; यस्य—इन्द्र का; इष्टाः—पूज्य होकर; तनवः—शरीर के अंग; सुराः—देवता।

ब्रह्माजी ने उन्हें इस प्रकार सम्बोधित किया : हे याजको, आप स्वर्ग के राजा इन्द्र को नहीं मार सकते, यह कार्य आपका नहीं है। आपको जान लेना चाहिए कि इन्द्र भगवान् के ही समान हैं। वस्तुतः वे भगवान् के सबसे अधिक शक्तिशाली सहायक हैं। आप इस यज्ञ द्वारा समस्त देवताओं को प्रसन्न करना चाह रहे हैं, किन्तु आपको ज्ञात होना चाहिए कि ये समस्त देवता स्वर्ग के राजा इन्द्र के ही अंश हैं। तो फिर आप इस महान् यज्ञ में उनका वध कैसे कर सकते हैं?

तदिदं पश्यत महद्भ्रमव्यतिकरं द्विजाः ।  
इन्द्रेणानुष्ठितं राज्ञः कर्मैतद्विजिघांसता ॥ ३१ ॥

#### शब्दार्थ

तत्—तब; इदम्—यह; पश्यत—जरा देखो; महत्—महान; धर्म—धार्मिक जीवन का; व्यतिकरम्—विघ्न; द्विजाः—हे ब्राह्मणों; इन्द्रेण—इन्द्र द्वारा; अनुष्ठितम्—किया गया; राज्ञः—राजा का; कर्म—कार्य; एतत्—यह यज्ञ; विजिघांसता—विघ्न डालने का इच्छुक।

राजा पृथु के महान् यज्ञ में विघ्न डालने तथा आपत्ति उठाने के उद्देश्य से राजा इन्द्र ने ऐसे साधन अपनाये हैं, जो भविष्य में धार्मिक जीवन के सुपथ को नष्ट कर सकते हैं। मैं इस ओर आप लोगों का ध्यान आकृष्ट कर रहा हूँ। यदि आप और अधिक विरोध करेंगे तो वह अपनी शक्ति का दुरुपयोग करके अनेक अधार्मिक पद्धतियों को फैलाएगा।

पृथुकीर्तेः पृथोभूयात्तर्होकोनशतक्रतुः ।  
अलं ते क्रतुभिः स्विष्टैर्यद्भवान्मोक्षधर्मवित् ॥ ३२ ॥

#### शब्दार्थ

पृथु-कीर्तेः—व्यापक कीर्तिवाले; पृथोः—राज पृथु का; भूयात्—हो; तर्हि—अतः; एक-ऊन-शत-क्रतुः—निन्यानब्बे यज्ञ करनेवाला; अलम्—कोई लाभ नहीं, बस; ते—तुम्हारे; क्रतुभिः—यज्ञ करने से; सु-इष्टैः—सुसम्पन्न; यत्—क्योंकि; भवान्—आप; मोक्ष-धर्म-वित्—मोक्ष के मार्ग को जाननेवाले।

ब्रह्माजी ने अन्त में कहा : “बस, महाराज पृथु के निन्यानब्बे यज्ञ ही रहने दो।” फिर वे महाराज पृथु की ओर मुड़े और उनसे कहा “आप मोक्ष मार्ग से भलीभाँति परिचित हैं, अतः आपको और अधिक यज्ञ करने से क्या मिलेगा?”

तात्पर्य : ब्रह्माजी राजा पृथु को निरन्तर एक सौ यज्ञ सम्पन्न करने से रोकने आये थे। राजा पृथु सौ यज्ञ करने के लिए कृत-संकल्प थे और इन्द्र ने इसे गम्भीरता से लिया, क्योंकि वह शतक्रतु नाम से विख्यात था। जिस प्रकार इस भौतिक जगत में सभी जीवात्माओं का स्वभाव है कि वे अपने प्रतियोगियों से ईर्ष्या करते हैं, उसी प्रकार स्वर्ग का राजा इन्द्र राजा पृथु के प्रति ईर्ष्यालु था, अतः वह उनके एक सौ यज्ञों को सम्पन्न नहीं होने देना चाहता था। वस्तुतः एक प्रकार से काफी स्पर्धा थी और राजा पृथु को रोकने के लिए तथा अपनी इन्द्रियों को तुष्ट करने के लिए इन्द्र नाना प्रकार की अधार्मिक पद्धतियाँ चलाने लगा। इन अधार्मिक कार्यों से विरत करने के लिए ब्रह्मा जी यज्ञस्थल पर स्वयं उपस्थित हुए। जहाँ तक महाराज पृथु का प्रश्न था, वे तो भगवान् के परम भक्त थे, अतः उनके लिए

निर्दिष्ट वैदिक अनुष्ठानों को करने की कोई आवश्यकता न थी। ऐसे अनुष्ठान कर्म कहलाते हैं और दिव्य स्थिति को प्राप्त भक्त के लिए इन्हें करने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। फिर भी आदर्श राजा होने के नाते यज्ञ करना पृथु का कर्तव्य था। अतः समझौता तैयार किया गया। ब्रह्माजी के आशीर्वाद से राजा पृथु इन्द्र से अधिक विख्यात होंगे। इस प्रकार राजा पृथु का एक सौ यज्ञ करने का संकल्प अप्रत्यक्ष रूप से ब्रह्मा के आशीर्वाद से पूरा हुआ।

नैवात्मने महेन्द्राय रोषमाहर्तुमर्हसि ।

उभावपि हि भद्रं ते उत्तमश्लोकविग्रहौ ॥ ३३ ॥

#### शब्दार्थ

न—नहीं; एव—निश्चय ही; आत्मने—तुमसे अभिन्न; महा-इन्द्राय—स्वर्ग के राजा इन्द्र पर; रोषम्—क्रोध; आहर्तुम्—करने के लिए; अर्हसि—तुम्हें चाहिए; उभौ—तुम दोनों; अपि—निश्चय ही; हि—भी; भद्रम्—कल्याण; ते—तुम्हारा; उत्तम-श्लोक-विग्रहौ—भगवान् के अवतार।

ब्रह्माजी ने कहा : आप दोनों का कल्याण हो क्योंकि आप तथा इन्द्र दोनों ही भगवान् के अंश हैं। अतः आपको इन्द्र पर क्रुद्ध नहीं होना चाहिए; वह आपसे अभिन्न है।

मास्मिन्महाराज कृथाः स्म चिन्तां

निशामयास्मद्वच आदृतात्मा ।

यद्ध्यायतो दैवहतं नु कर्तुं

मनोऽतिरुष्टं विशते तमोऽन्धम् ॥ ३४ ॥

#### शब्दार्थ

मा—मत; अस्मिन्—इसमें; महा-राज—हे राजा; कृथाः—करें; स्म—पूर्ववत्; चिन्ताम्—मन का विक्षोभ; निशामय—कृपया विचार करें; अस्मत्—मेरे; वचः—वचन; आदृत-आत्मा—अत्यन्त पूज्य; यत्—क्योंकि; ध्यायतः—ध्यानमग्न का; दैव-हतम्—विधाता द्वारा बिगाड़ा गया; नु—निश्चय ही; कर्तुम्—करने के लिए; मनः—मन; अति-रुष्टम्—अत्यन्त क्रुद्ध; विशते—प्रवेश करता है; तमः—अंधकार; अन्धम्—घना।

हे राजन्, दैवी व्यवधानों के कारण उचित रीति से आप के यज्ञ सम्पन्न न होने पर आप तनिक भी क्षुब्ध तथा चिन्तित न हों। कृपया मेरे वचनों को अति आदर भाव से ग्रहण करें। सदैव स्मरण रखें कि प्रारब्ध से जो कुछ घटित होता है उसके लिए हमें अधिक दुखी नहीं होना चाहिए। ऐसी पराजयों को सुधारने का जितना ही प्रयत्न किया जाता है, उतना ही हम भौतिकतावादी विचार के घने अंधकार में प्रवेश करते हैं।

तात्पर्य : कभी-कभी साधु स्वरूप या धार्मिक व्यक्ति को भी जीवन में पराजय देखनी पड़ती है।

ऐसी घटनाओं को दैवी मान लेना चाहिए। यद्यपि अप्रसन्न रहने के पर्याप्त कारण हो सकते हैं, किन्तु ऐसी पराजयों का प्रतिवाद नहीं करना चाहिए, क्योंकि जितना ही इन पराजयों को सुधारने का प्रयत्न किया जाता है हम उतने ही चिन्ता के गहन अँधेरे में प्रवेश करते जाते हैं। भगवान् कृष्ण ने भी इस सम्बन्ध में उपदेश दिया है। क्षुब्ध होने के बजाय हमें सहन करना चाहिए।

क्रतुर्विरमतामेष देवेषु दुरवग्रहः ।  
धर्मव्यतिकरो यत्र पाखण्डैरिन्द्रनिर्मितैः ॥ ३५ ॥

#### शब्दार्थ

क्रतुः—यज्ञ; विरमताम्—बन्द हो; एषः—यह; देवेषु—देवताओं में; दुरवग्रहः—अवांछित कामनाएँ; धर्म-व्यतिकरः—नियमों का अतिक्रमण; यत्र—जहाँ; पाखण्डैः—पापकर्मों के द्वारा; इन्द्र—स्वर्ग के राजा द्वारा; निर्मितैः—बनाये गये।

ब्रह्माजी ने आगे कहा : इन यज्ञों को बन्द कीजिये क्योंकि इनके कारण इन्द्र अनेक अधर्म कर रहा है। आपको भली भाँति ज्ञात होना चाहिए कि देवताओं में भी अनेक अवांछित कामनाएँ होती हैं।

तात्पर्य : सामान्य व्यावहारिक कार्यों में अनेक प्रतियोगी होते हैं और कभी-कभी वेदों के कर्मकाण्ड विषयक अध्यायों को लेकर कर्मियों के बीच स्पर्धा तथा द्वेष उत्पन्न होता है। कर्मों को ईर्ष्यालु होना चाहिए क्योंकि वह भौतिक सुखों को छक कर भोगना चाहता है। यह भव रोग है। फलतः कर्मियों के बीच, चाहे सामान्य व्यापार हो या यज्ञ हो, सदैव स्पर्धा रहती है। ब्रह्माजी का उद्देश्य इन्द्र तथा महाराज पृथु के बीच स्पर्धा का अन्त करना था। चूँकि महाराज पृथु महान् भक्त एवं ईश्वर के अवतार थे, इसलिए उनसे प्रार्थना की गई कि वे यज्ञों को बन्द कर दें जिससे इन्द्र और आगे अधर्म न चलाएँ जिसका पालन अपराधिक प्रवृत्ति के लोग सदा करते हैं।

एभिरिन्द्रोपसंसृष्टैः पाखण्डैर्हारिभिर्जनम् ।  
हियमाणं विचक्ष्वैनं यस्ते यज्ञधुगश्चमुट् ॥ ३६ ॥

#### शब्दार्थ

एभिः—इन; इन्द्र-उपसंसृष्टैः—इन्द्र द्वारा विरचित; पाखण्डैः—पापपूर्ण कार्य द्वारा; हारिभिः—मनोहर; जनम्—सामान्य लोग; हियमाणम्—चुराये गये; विचक्ष्व—देखो तो; एनम्—ये; यः—जो; ते—तुम्हारा; यज्ञ-धुक्—यज्ञ में विघ्न उत्पन्न करके; अश्च-मुट्—घोड़े को चुरानेवाला।

जरा देखिये कि राजा इन्द्र यज्ञ के घोड़े को चुरा कर किस प्रकार यज्ञ में विघ्न डाल रहा था!

उसके द्वारा प्रचारित मनोहर पापमय कार्य सामान्य जनों द्वारा आगे बढ़ाये जाते रहेंगे।

तात्पर्य : जैसाकि भगवद्गीता (३.२१) में कहा गया है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।

स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥

“महापुरुष जो जो आचरण करता है, साधारण मनुष्य उसका अनुसरण करते हैं। वह पुरुष अपने विलक्षण कर्मों से जो आदर्श स्थापित कर देता है, सम्पूर्ण विश्व उसके अनुसार कार्य करता है।”

राजा इन्द्र ने अपनी इन्द्रिय-तृप्ति के लिए ही महाराज पृथु को एक सौ अश्वमेध यज्ञ न करने देने का विचार किया। अतः उसने घोड़ा चुरा लिया और वह अपने को अनेक अधार्मिक पुरुषों के बीच, संन्यासी का छद्म वेष धारण करके छिपाता रहा। ऐसे कार्य सामान्य लोगों को आकर्षक लगते हैं, अतः वे घातक हैं। ब्रह्माजी ने सोचा कि इन्द्र द्वारा इस प्रकार अधर्म फैलाने की अपेक्षा श्रेयस्कर यही होगा कि यज्ञ बन्द करा दिया जाय। भगवान् बुद्ध ने ऐसा ही कदम उठाया था, जब लोग वैदिक आदेशों द्वारा संस्तुत पशुयज्ञों में बुरी तरह फँसे हुए थे। भगवान् बुद्ध को वैदिक यज्ञों का निषेध करके अहिंसा धर्म का सूत्रपात करना पड़ा। वस्तुतः यज्ञों में वध किये गये पशुओं को नव जीवन प्रदान किया जाता था, किन्तु ऐसे लोग जो मंत्रशक्ति से रहित थे इन वैदिक अनुष्ठानों का लाभ उठा रहे थे और वृथा ही बेचारे पशुओं का वध कर रहे थे। अतः उस समय भगवान् बुद्ध को वेदों की सत्ता अस्वीकार करनी पड़ी। मनुष्य को ऐसे यज्ञ नहीं करने चाहिए जिनसे अव्यवस्था पनपे। ऐसे यज्ञों को बन्द करना ही श्रेयस्कर होगा।

जैसाकि हमने बारम्बार दुहराया है, कलियुग में सुयोग्य ब्राह्मणों के अभाव में वेद-विहित यज्ञों को सम्पन्न करना सम्भव नहीं है। इसीलिए शास्त्र *संकीर्तन-यज्ञ* करने का उपदेश देते हैं। *संकीर्तन-यज्ञ* से भगवान् चैतन्य के रूप में भगवान् प्रसन्न होंगे और पूजित होंगे। यज्ञों को सम्पन्न करने का एकमात्र उद्देश्य भगवान् विष्णु को प्रसन्न करना है। भगवान् विष्णु या श्रीकृष्ण भगवान् चैतन्य के रूप में विद्यमान हैं, अतः बुद्धिमान लोगों को चाहिए कि *संकीर्तन-यज्ञ* द्वारा उन्हें तुष्ट करें। इस युग में भगवान् विष्णु को प्रसन्न करने का यह एक सरलतम उपाय है। लोगों को चाहिए कि इस युग में विभिन्न शास्त्रों

में यज्ञों के विषय में जो आदेश प्राप्त हैं, उनका लाभ उठाएँ और इस पापमय कलियुग में अनावश्यक उत्पात न फैलाएँ। इस कलियुग में सारे संसार के मनुष्य पशुओं के वध हेतु कसाईखाने खोलने में पटु हैं, क्योंकि वे पशु-मांस खाते हैं। यदि पहले जैसे धार्मिक अनुष्ठान किये जाते हैं, तो पशुओं का वध और बढ़ेगा। कलकत्ता में अनेक कसाइयों की दुकानें हैं जिनमें देवी काली की प्रतिमा रखी रहती है और पशु-भक्षक लोग सोचते हैं कि ऐसी दुकानों से मांस खरीदना अच्छा होगा, क्योंकि यह तो देवीकाली के भोग का शेष अंश है। वे नहीं जानते कि देवी काली कभी भी मांसाहारी भोजन स्वीकार नहीं करती, क्योंकि वे शिवजी की साध्वी पत्नी हैं। शिवजी भी महान् वैष्णव हैं और कभी मांस नहीं खाते। देवी काली शिवजी का उच्छिष्ट ही ग्रहण करती हैं। अतः उनके द्वारा मांस या मछली खाये जाने की कोई सम्भावना नहीं है। ऐसी भेंटें तो देवी काली के पार्षद स्वीकार करते हैं, जिन्हें भूत, पिशाच तथा राक्षस कहा जाता है, अतः जो लोग देवी काली से मांस या मछली का प्रसाद प्राप्त करते हैं, वह उनका छोड़ा गया प्रसाद न होकर भूतों तथा पिशाचों का जूठन होता है।

भवान्परित्रातुमिहावतीर्णो

धर्म जनानां समयानुरूपम् ।

वेनापचारादवलुप्तमद्य

तद्देहतो विष्णुकलासि वैन्य ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

भवान्—आप; परित्रातुम्—उद्धार के लिए; इह—इस संसार में; अवतीर्णः—अवतार लेकर; धर्मम्—धर्म; जनानाम्—सामान्य लोगों का; समय-अनुरूपम्—समय तथा परिस्थिति के अनुसार; वेन-अपचारात्—राजा वेन के दुष्कर्मों से; अवलुप्तम्—लुप्तप्राय; अद्य—इस समय; तत्—उसकी; देहतः—देह से; विष्णु—विष्णु का; कला—अंश; असि—तुम हो; वैन्य—हे राजा वेन के पुत्र।

हे वेन-पुत्र राजा पृथु, आप भगवान् विष्णु के अंश हैं। राजा वेन के उत्पाती कार्यों के कारण धर्म प्रायः लुप्त हो चुका था। आपने उचित समय पर भगवान् विष्णु के रूप में अवतार लिया। निस्सन्देह, आप धर्म की रक्षा के लिए ही राजा वेन के शरीर से प्रकट हुए हैं।

तात्पर्य : भगवान् विष्णु जिस प्रकार से असुरों को मार कर श्रद्धालुओं की रक्षा करते हैं उसका उल्लेख भगवद्गीता (४.८) में मिलता है—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।

धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥

“भक्तजनों का उद्धार, दुष्टों का नाश तथा धर्म का फिर से स्थापन करने के लिए मैं युग-युग में प्रकट होता हूँ।”

भगवान् विष्णु अपने दो हाथों में असुरों को मारने के लिए गदा तथा चक्र धारण किये रहते हैं और अन्य दो हाथों में भक्तों को सुरक्षा प्रदान करने के लिए कमल तथा शंख लिये रहते हैं। जब भगवान् का अवतार इस धरती पर या इस ब्रह्माण्ड में होता है, तो वे असुरों का वध तथा भक्तों की रक्षा एक साथ करते हैं। कभी-कभी भगवान् विष्णु, भगवान् कृष्ण या भगवान् राम के रूप में प्रकट होते हैं। शास्त्रों में इन सब रूपों का वर्णन मिलता है। वे कभी कभी भगवान् बुद्ध के रूप में अपने शक्त्यावेश अवतार में प्रकट होते हैं। जैसाकि पहले कहा जा चुका है, ये शक्त्यावेश अवतार जीवात्मा में निहित भगवान् विष्णु की शक्ति के अवतार हैं। जीवात्माएँ भी भगवान् विष्णु के अंश हैं, किन्तु वे उतनी शक्तिमान नहीं होतीं, अतः जब कोई जीवात्मा विष्णु के अवतार के रूप में प्रकट होता है, तो उसे भगवान् द्वारा विशेष शक्ति प्रदान की गई होती है।

जब राजा पृथु को भगवान् विष्णु का अवतार कहा जाता है, तो उन्हें शक्त्यावेश अवतार मानना चाहिए जो भगवान् विष्णु का अंश है और उनके द्वारा विशेष रूप से शक्ति प्रदान किया हुआ था। भगवान् विष्णु द्वारा शक्ति-प्रदत्त जीवात्मा विष्णु के अवतार के रूप में भक्ति उपासना पद्धति का उपदेश देने के लिए होता है। ऐसा व्यक्ति भगवान् विष्णु के समान ही कर्म करके तर्कों द्वारा असुरों को हराता है और शास्त्रानुमोदित भक्ति उपासना पद्धति का उपदेश देता है। जैसाकि भगवद्गीता में संकेत किया गया है, जब कोई अद्वितीय पुरुष भक्तियोग का उपदेश देता है, तो हमें जान लेना चाहिए कि वह भगवान् विष्णु अथवा भगवान् कृष्ण द्वारा शक्ति प्रदत्त है। चैतन्य-चरितामृत में (अन्त्य ७.११) पुष्टि की गई है कि—कृष्ण शक्ति विना नहे तार प्रवर्तन—जब तक किसी को ईश्वर द्वारा विशेष शक्ति प्रदत्त न हो, वह भगवान् के पवित्र नाम की महिमा की व्याख्या नहीं कर सकता। यदि कोई ऐसे शक्तिप्रदत्त पुरुष की आलोचना करता है या दोष निकालता है, तो उसे विष्णु के प्रति अपराधी समझना चाहिए और वह दण्डनीय है। भले ही ऐसे लोग नकली तिलक तथा माला धारण करके वैष्णव बन लें, किन्तु



यदि वे शुद्ध वैष्णव की निन्दा करते हैं, तो भगवान् उन्हें कभी क्षमा नहीं कर सकता। शास्त्रों में इसके कई उदाहरण हैं।

स त्वं विमृश्यास्य भवं प्रजापते  
 सङ्कल्पनं विश्वसृजां पिपीपृहि ।  
 ऐन्द्रीं च मायामुपधर्ममातरं  
 प्रचण्डपाखण्डपथं प्रभो जहि ॥ ३८ ॥

#### शब्दार्थ

सः—उपर्युक्त; त्वम्—तुम; विमृश्य—विचार करके; अस्य—इस जगत का; भवम्—अस्तित्व, संसार; प्रजा-पते—हे मनुष्यों के त्राता; सङ्कल्पनम्—दृढ़ निश्चय; विश्व-सृजाम्—विश्व के जनकों का; पिपीपृहि—पूरा करो; ऐन्द्रीम्—इन्द्र के द्वारा उत्पन्न; च—भी; मायाम्—माया; उपधर्म—तथाकथित संन्यास के अधर्म का; मातरम्—माता; प्रचण्ड—घातक; पाखण्ड-पथम्—पापपूर्ण कर्मों का मार्ग; प्रभो—हे भगवान्; जहि—जीत लीजिए।

हे प्रजा-पालक, विष्णु द्वारा प्रदत्त अपने इस अवतार के उद्देश्य पर विचार कीजिये। इन्द्र द्वारा सर्जित अधर्म अनेक अवांछित धर्मों की जननी है। अतः आप तुरन्त ही इन पाखण्डों का अन्त कर दीजिये।

तात्पर्य : ब्रह्माजी राजा पृथु को प्रजापते रूप में इसलिए सम्बोधित करते हैं जिससे वे अपनी प्रजा की शान्ति तथा सम्पन्नता को स्थिर रखने के दायित्व को न भूलें। भगवान् ने महाराज पृथु को इसी कार्य के लिए शक्ति-सम्पन्न किया था। आदर्श राजा का यह कर्तव्य है कि वह देखे कि लोग धर्म का ठीक से पालन करते हैं। ब्रह्मा ने राजा पृथु से विशेष रूप से राजा इन्द्र द्वारा सर्जित छद्म धर्मों पर विजय प्राप्त करने का अनुरोध किया। दूसरे शब्दों में, राजसत्ता का या राजा का धर्म है कि वह अनैतिक व्यक्तियों द्वारा पैदा किये गये छद्म धर्मों पर रोक लगाएँ। मूलतः धर्म एक है, जो भगवान् द्वारा प्रदत्त है और यह दो रूपों में शिष्य-परम्परा से प्राप्त होता है। ब्रह्मा ने पृथु महाराज से अनुरोध किया कि वे इन्द्र से वृथा स्पर्धा न करें, जो उनके द्वारा सौ यज्ञों को पूरा न होने देने पर तुला हुआ था। विरोधी क्रिया करने की अपेक्षा महाराज पृथु के लिए श्रेयस्कर होगा कि यज्ञों को बन्द कर दें। अच्छी सरकार स्थापित करने तथा उचित व्यवस्था लाने के लिए यह किया गया।

मैत्रेय उवाच

इत्थं स लोकगुरुणा समादिष्टो विशाम्पतिः ।

तथा च कृत्वा वात्सल्यं मघोनापि च सन्दधे ॥ ३९ ॥

**शब्दार्थ**

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; इत्थम्—इस प्रकार; सः—राजा पृथु; लोक-गुरुणा—समस्त मनुष्यों के आदि गुरु ब्रह्मा द्वारा; समादिष्टः—आदेशित; विशाम्-पतिः—लोगों का स्वामी, राजा; तथा—उस प्रकार; च—भी; कृत्वा—करके; वात्सल्यम्—स्नेह; मघोना—इन्द्र से; अपि—तक; च—भी; सन्दधे—सन्धि कर ली।

महर्षि मैत्रेय ने आगे कहा : जब परम गुरु ब्रह्माजी ने राजा पृथु को इस प्रकार उपदेश दिया तो उन्होंने यज्ञ करने की अपनी उत्सुकता त्याग दी और अत्यन्त स्नेहपूर्वक राजा इन्द्र से सन्धि कर ली।

कृतावभृथस्नानाय पृथवे भूरिकर्मणे ।

वरान्ददुस्ते वरदा ये तद्वर्हिषि तर्पिताः ॥ ४० ॥

**शब्दार्थ**

कृत—सम्पन्न करके; अवभृथ-स्नानाय—यज्ञ के पश्चात् स्नान करके; पृथवे—राजा पृथु को; भूरि-कर्मणे—अनेक शौर्यवाले कार्य के लिए विख्यात; वरान्—वर, आशीर्वाद; ददुः—दिया; ते—वे सब; वर-दाः—वर देनेवाले, देवतागण; ये—जो; तत्-वर्हिषि—ऐसे यज्ञ करने में; तर्पिताः—प्रसन्न हो गये।

इसके पश्चात् पृथु महाराज ने स्नान किया, जो प्रथानुसार यज्ञ के अन्त में किया जाता है, और महिमायुक्त कार्यों से अत्यन्त प्रसन्न देवताओं से आशीष तथा वर प्राप्त किये।

तात्पर्य : यज्ञ का अर्थ भगवान् विष्णु है, क्योंकि सारे यज्ञ भगवान् विष्णु को प्रसन्न करने के लिए सम्पन्न किये जाते हैं। चूँकि यज्ञ करने से देवता स्वयमेव प्रसन्न होते हैं, अतः वे यज्ञकर्ता को आशीष देते हैं। जब मनुष्य पौधे की जड़ में पानी डालता है, तो डालें, तने, टहनियाँ, फूल तथा पत्ती सभी तुष्ट होते हैं। इसी प्रकार जब कोई उदर को भोजन पहुँचाता है, तो शरीर के सभी अंग पुनर्जागरित हो उठते हैं। यदि कोई यज्ञ करके अकेले भगवान् विष्णु को प्रसन्न कर लेता है, तो अन्य सारे देवता स्वतः सन्तुष्ट हो जाते हैं। बदले में देवता भक्त को वर देते हैं। अतः शुद्ध भक्त कभी भी देवताओं से सीधा वर नहीं माँगता। उसका तो एकमात्र व्यापार भगवान् की सेवा करना है। अतः उसे देवताओं द्वारा प्रदत्त वस्तुओं की कभी कोई आवश्यकता नहीं पड़ती।

विप्राः सत्याशिषस्तुष्टाः श्रद्धया लब्धदक्षिणाः ।

आशिषो युयुजुः क्षत्तरादिराजाय सत्कृताः ॥ ४१ ॥

**शब्दार्थ**

विप्राः—सभी ब्राह्मण; सत्य—सही; आशिषः—जिसके आशीर्वाद; तुष्टाः—अत्यन्त सन्तुष्ट होकर; श्रद्धया—अत्यन्त सम्मानपूर्वक; लब्ध-दक्षिणाः—दक्षिणा प्राप्त किये हुए; आशिषः—आशीर्वाद; युयुजुः—प्रदान किया; क्षत्तः—हे विदुर; आदि-राजाय—आदि राजा को; सत्-कृताः—सम्मानित होकर।

आदिराज पृथु ने उस यज्ञ में उपस्थित समस्त ब्राह्मणों को अत्यन्त सम्मानपूर्वक सभी प्रकार की भेंटें प्रदान कीं। इन ब्राह्मणों ने प्रसन्न होकर राजा को अपनी ओर से हार्दिक शुभाशीष दिये।

त्वयाहूता महाबाहो सर्व एव समागताः ।

पूजिता दानमानाभ्यां पितृदेवर्षिमानवाः ॥ ४२ ॥

#### शब्दार्थ

त्वया—तुम्हारे द्वारा; आहूताः—आमंत्रित; महा-बाहो—हे परम शक्तिशाली; सर्वे—सभी; एव—निश्चय ही; समागताः—एकत्र; पूजिताः—सम्मानित हुए; दान—दान से; मानाभ्याम्—सम्मान से; पितृ—पितृलोक के वासी; देव—देवता; ऋषि—ऋषिगण; मानवाः—तथा सामान्य जन।

समस्त ऋषियों तथा ब्राह्मणों ने कहा : हे शक्तिशाली राजा, आपके आमंत्रण पर सभी वर्ग के जीवों ने इस सभा में भाग लिया है। वे पितृलोक तथा स्वर्गलोकों से आये हैं, साथ ही सामान्यजन एवं ऋषिगण भी इस सभा में उपस्थित हुए हैं। अब वे सभी आपके व्यवहार तथा आपके दान से अत्यन्त सन्तुष्ट हैं।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के चतुर्थ स्कन्ध के अन्तर्गत “राजा पृथु के सौ अश्वमेध यज्ञ,” नामक उन्नीसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।